1 पण्णा समिक्खए धम्मं

धर्म शब्द जितना अधिक व्यापक स्तर पर प्रचलित है और उसका उपयोग किया जा रहा है, उतनी ही उसकी सूक्ष्मतर विवेचना नहीं की जा रही है। इस दिशा में उचित प्रयत्न जो अपेक्षित हैं, वे नहीं के बराबर हैं और जो कुछ हैं भी, वे मानव चेतना को कभी-कभी धुंधलके में डाल देते हैं।

धर्म क्या है? इसका पता हम प्राय: विभिन्न मत-पंथों, उनके प्रचारक गुरुओं एवं तत्तत् शास्त्रों से लगाते हैं। और, आप जानते हैं, मत-पंथों की राह एक नहीं है। अनेक प्रकार के एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध क्रिया-काण्डों के नियमोपनियमों में उलझे हुए हैं, ये सब। इस स्थिति में किसे ठीक माना जाए और किसे गलत? धर्म गुरुओं एवं शास्त्रों की आवाजें भी अलग-अलग हैं। एक गुरु कुछ कहता है, तो दूसरा गुरु कुछ और ही कह देता है। इस स्थिति में विधि-निषेध के विचित्र चक्रवात में मानव-मस्तिष्क अपना होश खो बैठता है। वह निर्णय करे, तो क्या करे? यह स्थिति आज की ही नहीं, काफी पुरातन काल से चली आ रही है। महाभारतकार कहता है—श्रुति अर्थात् वेद भिन्न-भिन्न हैं। स्मृतियों की भी ध्वनि एक नहीं है। कोई एक मुनि भी ऐसा नहीं है, जिसे प्रमाण रूप में सब लोक मान्यता दे सकें। धर्म का तत्त्व एक तरह से अंधेरी गुफा में छिप गया है—

"श्रुतिर्विभिन्ना - स्मृतयो विभिन्नाः
नैकोमुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् ।

विश्व जगत् में यत्र-तत्र अनेक उपद्रव, विरोध, संघर्ष, यहाँ तक कि नर-संहार भी अतीत के इतिहास में देखते हैं। आज भी इन्सान का खून बेदर्दी से बहाया जा रहा है। अत: धर्म-तत्त्व की समस्या का समाधान कहाँ है, इस पर कुछ-न-कुछ चिन्तन करना आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानव, धरती पर के प्राणियों में सर्व-श्रेष्ठ माना गया है। उससे बढ़कर अन्य कौन श्रेष्ठतर प्राणी है? स्पष्ट है, कोई नहीं है। चिन्तन-मनन करके यथोचित निर्णय पर पहुँचने के लिए उसके पास जैसा मन-मस्तिष्क है, वैसा धरती पर के किसी अन्य प्राणी के पास नहीं है। मानव अपनी विकास-यात्रा में कितनी दूर तक और ऊँचाइयों तक पहुँच गया है, यह आज सबके सामने प्रत्यक्ष है। कोई स्वप्न या कहानी नहीं है। आज मानव ऊपर चन्द्रलोक पर विचरण कर रहा है और नीचे महासागरों के तल को छू रहा है। एक-एक परमाणु की खोज जारी है। यह सब किसी शास्त्र या गुरु के आधार पर नहीं हुआ है। इसका मूल मनुष्य के मन की चिन्तन-यात्रा में ही है। अतः धर्म-तत्त्व की खोज भी इधर-उधर से हटाकर मानव-मस्तिष्क के अपने मुक्त चिन्तन पर ही आ खड़ी होती है।

यह मैं नई बात नहीं कर रहा हूँ। आज से अढाई हजार वर्ष से भी कहीं अधिक पहले श्रावस्ती की महती सभा में दो महान् ज्ञानी मुनियों का एक महत्त्वपूर्ण संवाद है। मुनि हैं —केशी और गौतम। मैं देखता हूँ कि उक्त संवाद में कहीं पर भी अपने-अपने शास्ता एवं शास्त्रों को निर्णय के हेतु बीच में नहीं लाया गया है। सब निर्णय प्रज्ञा के आधार पर हुआ है।

वहाँ स्पष्ट है, जो गौतम के द्वारा उपदिष्ट है कि प्रज्ञा के द्वारा ही धर्म की समीक्षा होनी चाहिए। सूत्र है—"पण्णा समिक्खए धम्मं"[1] अर्थात् प्रज्ञा ही धर्म की समीक्षा करने में समर्थ है। और धर्म है भी क्या? तत्त्व का अर्थात् सत्यार्थ का विशिष्ट निश्चय ही धर्म है।[2] और यह विनिश्चय अन्ततः मानव की प्रज्ञा पर ही आधारित है। शास्त्र और गुरु संभवतः कुछ सीमा तक योग दे सकते हैं। किन्तु, सत्य की आखिरी मंजिल पर पहुँचने के लिए तो अपनी प्रज्ञा ही साथ देती है। 'प्र' अर्थात् प्रकृष्ट, उत्तम, निर्मल और 'ज्ञा' अर्थात् ज्ञान।

जब मानव की चेतना पक्ष-मुक्त होकर इधर-उधर की प्रतिबद्धताओं से अलग होकर सत्याभिलाषी चिन्तन करती है, तो उसे अवश्य ही, धर्म तत्त्व की सही दृष्टि प्राप्त होती है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा है। ऋत् अर्थात् सत्य को वहन करने वाली शुद्ध ज्ञान चेतना। योग दर्शनकार पतंञ्जलि ने इसी संदर्भ में एक सूत्र उपस्थित किया है—'ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा', 1, 48. उक्त सूत्र की व्याख्या भोजवृत्ति में इस प्रकार है—

> "ऋतं सत्यं विभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाच्छाद्यते सा ऋतंभरा
> प्रज्ञा तस्मिन्सति भवतीत्यर्थः।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जो कभी भी विपर्यय से आच्छादित न हो, वह सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा होती है।

माना कि साधारण मानव की प्रज्ञा की भी एक सीमा है। वह असीम और अनन्त नहीं है। फिर भी उसके बिना यथार्थ सत्य के निर्णय का अन्य कोई आधार भी तो नहीं है। अन्य जितने आधार हैं, वे तो सूने जंगल में भटकाने जैसे हैं और परस्पर टकराने वाले हैं। अतः जहाँ तक हो सके अपनी प्रज्ञा के बल पर ही निर्णय को आधारित रखना चाहिए। अन्तिम प्रकाश उसीसे मिलेगा। शास्त्रों से भी निर्णय करेंगे, तब भी प्रज्ञा की अपेक्षा तो रहेगी ही। बिना प्रज्ञा के शास्त्र मूक हैं? वे स्वयं क्या करेंगे। इस सम्बन्ध में एक प्राचीन मनीषी ने कहा है– "जिस व्यक्ति को अपनी स्वयं की प्रज्ञा नहीं है, उसके लिए शास्त्र भी व्यर्थ है। शास्त्र उसका क्या मार्गदर्शन कर सकता है? अन्धा व्यक्ति यदि अच्छा-से-अच्छा दर्पण लेकर अपना मुख-मण्डल देखना चाहे, तो क्या देख सकता है"–

"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पण : किं करिष्यति ।।

शास्त्र के लिए प्राकृत में 'सुत्त' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके संस्कृत रूपान्तर अनेक प्रकार के हैं, उनमें सुत्त शब्द का एक संस्कृत रूपान्तर सुप्त भी होता है। यह रूपान्तर अच्छी तरह विचारणीय है। सुत्तं अर्थात् सुप्त है, यानी सोया हुआ है। सोया हुआ कार्यकारी नहीं होता है। उसके भाव को एवं परमार्थ को जगाना होता है और, वह जागता है, चिन्तन एवं मनन से अर्थात् मानव की प्रज्ञा ही उस सुप्त शास्त्र को जगाती है। उसके अभाव में वह केवल शब्द है, और कुछ भी नहीं। अतः प्राचीन विचारकों ने शास्त्र के साथ भी तर्क को संयोजित किया है। संयोजित ही नहीं, तर्क को प्रधानता दी गई है। प्राचीन मनीषी कहते हैं कि, जो चिन्तक तर्क से अनुसंधान करता है, वही धर्म के तत्त्व को जान सकता है, अन्य नहीं। युक्ति-हीन विचार से तो धर्म की हानि ही होती है।

"यस्तर्केणानुसंधत्ते, स धर्मं वेद नेतरः।
युक्तिहीनविचारे तु, धर्महानिः प्रजायते ।।"

प्रस्तुत संदर्भ में मेरा भी एक श्लोक है, जिसका अभिप्राय है कि शास्त्रों को अच्छी तरह स्पष्टतया चिन्तन करके ही ग्रहण करना चाहिए। चिन्तन के द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही शास्त्र शिवत्व की उपलब्धि का हेतु होता है। चिन्तन के अभाव में केवल शब्द-प्रधान शास्त्र शिव नहीं, अपितु शव ही रह जाता है। शव अर्थात् मृत, मुर्दा मृत को चिपटाये रहने से अन्ततः जीवित भी मृत ही हो जाता है। मृत की उपासना में प्राणवान ऊर्जा कैसे प्राप्त हो सकती है?

"शास्त्रं सुचिन्तितं ग्राह्यं, चिन्तनाद्धि शिवायते।
अन्यथा केवलं शब्द - प्रधानं तु शवायते ॥"

भारतीय चिन्तन-धारा में प्रज्ञावाद का नाद अनुगुंजित है। बौद्ध-साहित्य में तो प्रज्ञा-पारमिता का विस्तार से वर्णन है ही। जब तक प्रज्ञा-पारमिता को नहीं प्राप्त कर लेता है, तब तक वह बुद्धत्व को नहीं प्राप्त हो सकता। जैन-संस्कृति में भी प्रज्ञा पर ही अनेक स्थानों में महत्त्वपूर्ण बल दिया गया है। स्वयं भगवान् महावीर के लिए भी प्रज्ञा के विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं। बहुत दूर न जाएँ, तो सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध का वीरथुई नामक अध्ययन हमारे समक्ष है। उसमें गणधर सुधर्मा कहते हैं-

से भूपन्ने- वे महान् प्रज्ञावाले हैं।

कासव आसुपन्ने-महावीर साक्षात् सत्य के द्रष्टा आसुप्रज्ञावाले हैं।

से पन्नया अक्खय सागरे वा-वे प्रज्ञा से अक्षय सागर के समान हैं।

अन्यत्र भी आगम साहित्य में प्रज्ञा शब्द का प्रयोग निर्मल ज्ञान-चेतना के लिए प्रयुक्त है। यह प्रज्ञा किसी शास्त्र आदि के आधार पर निर्मित नहीं होती है। यह ज्ञानावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से अन्तःस्फूर्त ज्ञान-ज्योति होती है।

वस्तुतः इसी के द्वारा सत्य का साक्षात्कार होता है। इसके अभाव में कैसा भी कोई गुरु हो, और कैसा भी कोई शास्त्र हो, कुछ नहीं कर सकता। इसीलिए भारत का साधक निरन्तर 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के प्रार्थना सूत्र की रट लगाए रहता है। अज्ञान ही तमस् है और तमस् ही मृत्यु है। बुद्ध इसे प्रमाद शब्द के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। कहते हैं-प्रमाद मृत्यु है और अप्रमाद अमृत है-

"अप्पमाओ अमतपदं, पमाओ मच्चुनो पदं।" - धम्मपद, 2, 1.

यह अप्रमाद क्या है? प्रमाद का अभाव होकर जब प्रज्ञा की ज्योति प्रज्वलित होती है, तब अप्रमाद की भूमिका प्राप्त होती है। और, इसी में साधक अमृतत्व की उपलब्धि करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय धर्म और दर्शन में ऋषि शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। स्वय भगवान् महावीर को भी परम महर्षि कहा गया है-

"अणुत्तरग्गं परमं महेसी।" सूत्रकृतांग, 1, 6, 17.

अन्यत्र भी अनेक प्रज्ञावान मुनियों के लिए ऋषि शब्द का प्रयोग हुआ है। हरिकेशबल मुनि की स्तुति करते हुए कहा गया-

"महप्पसाया इसिणो हवन्ति।" -उत्तराध्ययन, 12, 31.

आज जानते हैं, ऋषि शब्द का क्या अर्थ है? ऋषि शब्द का अर्थ है-सत्य का साक्षात्-द्रष्टा। ऋषि सत्य का श्रोता कदापि नहीं होता, प्रत्युत् अपने अन्तःस्फूर्त प्रज्ञा के द्वारा सत्य का द्रष्टा होता है। कोष-साहित्य में ऋषि का अर्थ यही किया गया है। वह अन्तःस्फूर्त कवि, मुनि, मन्त्र-द्रष्टा और प्रकाश की किरण है। कवि शब्द का अर्थ काव्य का रचयिता ही नहीं, अपितु ईश्वर-भगवान् भी होता है। इस सम्बन्ध में ईशोपनिषद् कहता है-

"कविर्मनीषिपरिभू स्वयंभू"

उक्त विवेचन का सार यही है कि सत्य की उपलब्धि के लिए मानव की अपनी स्वयं प्रज्ञा ही हेतु हैं प्रज्ञा के अभाव में व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं ध र्म आदि सब तमसाच्छन्न हो जाते हैं। और इसी तमसाच्छन्न स्थिति में से अन्ध -मान्यताएँ एवं अन्ध-विश्वास जन्म लेते हैं, जो अन्ततः मानव-जाति की सर्वोत्कृष्टता के सर्वस्व संहारक हो जाते हैं।

अतीत के इतिहास में जब हम पहुँचते हैं, तो देखते हैं कि प्रज्ञा के अभाव में मानव ने कितने भयंकर अनर्थ किए हैं। हजारों ही नहीं, लाखों महिलाएँ, पति के मृत्यु पर पतिव्रता एवं सतीत्व की गरिमा के नाम पर पति के शव के साथ जीवित जला दी गई हैं। आज के सुधारशील युग में यदा-कदा उक्त घटनाएँ समाचार पत्रों के पृष्ठों पर आ जाती हैं। यह कितना भयंकर हत्या-काण्ड है, जो धर्म एवं शास्त्रों के नाम पर होता आ रहा है।

देवी-देवताओं की प्रस्तर मूर्तियों के आगे मूक-पशुओं के बलिदान की प्रथा भी धार्मिक परम्पराओं के नाम पर चालू है। एक-एक दिन में देवी के आगे सात-सात हजार बकरे काट दिए जाते हैं। और, हजारों नर-नारी, बच्चे, बूढे,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नौजवान हर्षोल्लास से नाचते-गाते है एवं देवी के नाम की जय-जयकार करते हैं। लगता है कि मानव के रूप में कोई दानवों का मेला लगा है। विचार-चर्चा करें और विरोध में स्वर उठाएँ तो झटपट कोई शास्त्र लाकर सामने खड़ा कर दिया जाता है। और, पण्डे-पुरोहित धर्म-ध्वंस की दुहाई देने लगते हैं। पशु ही क्यों, सामूहिक नर-बलि तक के इतिहास की ये काली घटनाएँ हमें भारतीय इतिहास में मिल जाती हैं और आज भी मासूम बच्चों के सिर काट कर देवी को प्रसन्न करने के लिए बलि के रूप में अर्पित कर दिए जाते हैं।

अन्ध-विश्वासों की परम्परा की कथा बड़ी लम्बी है। कहीं ग्रामीण महिलाएँ सर्वथा नग्न होकर वर्षा के लिए खेतों में हल जोतने का अभिनय करती हैं। ओर, कहीं पर पशु बलि एवं नरबलि तक इसके लिए दे दी जाती है।

प्रज्ञा-हीन धर्म के चक्कर में भ्रमित होकर लोगों ने आत्मपीड़न का कष्ट भी कम नहीं उठाया है। वस्त्रहीन नग्न होकर हिमालय में रहते हैं। जेठ की भयंकर गर्मी में चारों ओर धूनी लगाते हैं। कांटे बिछाकर सोते हैं। जीवित ही मुक्ति के हेतु गंगा में कूद कर आत्म-हत्या कर लेते हैं। और, कुछ लोग तो जीवित ही भूमि में समाधि लेकर मृत्यु का वरण भी करते हैं। और, कुछ आत्म-दाह करने वाले भी कम नहीं हैं। लगता है, मनुष्य आँखों के होते हुए भी अंधा हो गया है।

धर्म रक्षा के नाम पर वह कुछ भी कर सकता है या उससे कुछ भी कराया जा सकता है। धर्म और गुरुओं के नाम पर ऐसा भयंकर शहीदी झनून सवार होता है कि अपने से भिन्न धर्म-परम्परा के निरपराध लोगों की सामूहिक हत्या तक करने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती। ये सब उपद्रव देव-मूढ़ता, गुरु-मूढ़ता तथा शास्त्र-मूढ़ता के कारण होते हैं। प्रज्ञा ही, उक्त मूढ़ताओं को दूर कर सकती है। किन्तु, धर्म के भ्रम में उसने अपना या समाज का भला-बुरा सोचने से इन्कार कर दिया है।

अतः अपेक्षा है, प्रज्ञा की अन्तर्-ज्योति को प्रज्वलित करने की। बिना ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हुए, यह भ्रम का सघन अन्धकार कथमपि दूर नहीं हो सकता। अतः अनेक भारत के प्रबुद्ध मनीषियों ने ज्ञान-ज्योति को प्रकाशित करने के लिए प्रबल प्रेरणा दी है। श्रीकृष्ण तो कहते हैं–"ज्ञान से बढ़कर विश्व में अन्य कुछ भी पवित्र नहीं है"–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"

अज्ञान तमस् को नष्ट करने के लिए ज्ञान की अग्नि ही सक्षम है। श्रीकृष्ण और भी बल देकर कहते हैं–"हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि काष्ठ समूह को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है–

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।" –गीता, 4, 37

उपनिषद् साहित्य में सर्व प्रथम मौलिक स्थान ईशोपनिषद् का है। यह उपनिषद् यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय है। उसका एक सूत्र वचन है–'विद्ययाऽमृतमश्नुते' अर्थात् विद्या से ही अमृत-तत्त्व की उपलब्धि होती है।

तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने भी ज्ञान-ज्योति पर ही अत्यधिक बल दिया है। मुनि शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने अन्य किसीं बाह्य क्रिया-काण्ड विशेष की चर्चा न करके मुनित्व के लिए सम्यग्-ज्ञान की ही हेतुता को स्वीकृत किया है–

नाणेण य मुणी होई। –उत्तराध्ययन, 25, 32.

श्रमण आवश्यक सूत्र में एक पाठ है, जो हर भिक्षु को सुबह सायं प्रतिक्रमण के समय उपयोग में लाना होता है। वह पाठ है–

"मिच्छतं परियाणामि सम्मत्तं-उवसंपज्जामि।
अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि।
अन्नाणं परियाणामि, नाणं उवसंपज्जामि।"

पाठ लम्बा है। उसमें का कुछ अंश ही यहाँ उद्धृत किया गया है। इसका भावार्थ है–"मैं मिथ्यात्व का परित्याग करता हूँ और सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ और सम्यक्-ज्ञान को स्वीकार करता हूँ।"

कितने उदात्त वचन हैं ये। काश, यदि हम इन वचनों पर चलें, तो फिर धर्म के नाम पर चल रहे पाखण्डों के भ्रम का अंधेरा मानव-मस्तिष्क को कैसे भ्रान्त कर सकता है? अपेक्षा है, आज प्रज्ञावाद के पुनः प्रतिष्ठा की ! जन-चेतना में प्रज्ञा की ज्योति प्रज्वलित होते ही जाति, पंथ तथा राष्ट्र के नाम पर आए दिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने वाले उग्रवादी या आतंकवादी जैसे उपद्रवों के काले बादल सहसा छिन्न-भिन्न हो सकते हैं। और, मानव अपने को मानव के रूप में पुनः प्रतिष्ठित कर सकता है। मृत होती हुई मानवता को जीवित रखने के लिए स्वतन्त्र चिन्तन के रूप में प्रज्ञा की ऊर्जा ही काम दे सकती–

"नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"

संदर्भ

1. उत्तराध्ययन, 23, 25.
2. धम्मं तत्त विणिच्छयं। –उत्तराध्ययन, 23, 25 वही.
3. सुत्तं तु सुतमेव उ।

–अर्थेन अबोधितं सुप्तमिव सुप्तं प्राकृतशैल्या सुत्तं।

–बृहत्कल्प भाष्य एवं टीका, 309

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org